

## जातिवाद और शिक्षा

अमन मदान

**इ**स शृंखला के पिछले लेख में हमने वर्गीय असमानता और शिक्षा पर चर्चा की थी। हमारे देश में शिक्षा को बहुत गहरे तौर पर प्रभावित करने वाली एक और प्रक्रिया जातिगत असमानता की है। इस कड़ी में हम इसी का विश्लेषण करेंगे। यद्यपि जाति व्यवस्था, वर्गीय असमानता के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है मगर इसका आंतरिक कार्यविधान भिन्न है। वर्गीय असमानता संसाधनों, कार्य आधारित संबंधों और व्यवसायों से तय होती है जबकि जातीय ऊंच-नीच एक ऐसे सांस्कृतिक आचार से तय होती है जिसके पीछे विचारधाराओं, श्रम और कुटुंब संरचनाओं का योगदान हो सकता है। नीचे हम देखेंगे कि सामाजिक जीवन में ये संरचनाएं किस तरह अभिव्यक्त होती हैं। जातियों को पहचानना आसान है क्योंकि उनके निश्चित नाम होते हैं। जातियों के आधार पर सदस्यों को समूहबद्ध करना भी आसान होता है और मीडिया व सियासत में भी उन पर व्यापक चर्चा होती रहती है। वर्गीय असमानता को पहचानना अकसर ज्यादा कठिन होता है। फिर भी, हमें इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि वर्गीय असमानता से हम पर गहरे असर पड़ते हैं भले ही कई बार इसकी शिनाख्त करना मुश्किल ही क्यों न हो। साथ ही यह भी सच है कि कई बार हमें जो जातिगत रुझान दिखायी पड़ता है वह भी वास्तव में वर्गीय रुझान हो सकता है। उदाहरण के लिए, हो सकता है सरकारी स्कूलों में ज्यादातर बच्चे अनुसूचित जातियों के हों मगर इसका कारण केवल उनकी जातिगत पहचान हो ऐसा जरूरी नहीं है; इसका कारण यह भी हो सकता है कि ज्यादातर अनुसूचित जाति परिवार भूमिहीन मजदूर या सीमांत किसान हैं और लिहाजा वे अपने बच्चों को निजी स्कूलों में नहीं भेज सकते। वर्ग का अपना महत्व है और जातिगत तथा वर्गीय असमानता के बीच एक निश्चित संबंध होता है। मगर जाति और वर्ग को एक-दूसरे के समान नहीं माना जा सकता और लिहाजा जाति को वर्ग से अलग करके देखना और उस पर अलग से चर्चा करना बहुत जरूरी है।

सामाजिक असमानता कई रूप लेती है, उनमें से एक है हैसियत की असमानता। हैसियत की असमानता हैसियत के समूहों के बनने से और गूढ हो जाती है और जातिवाद इसका एक अच्छा उदाहरण है। वेबर ने हैसियत समूहों को ऐसा समूह बताया है जो एक खास तरह की हैसियत या प्रतिष्ठा के आधार पर परिभाषित होते हैं (वेबर 1978 : 305-6)। हैसियत समूह और हैसियत असमानता बहुत से कारणों से पैदा हो सकती है। उदाहरण के लिए, किसी अभिजात्य विश्वविद्यालय के ऐसे विद्यार्थी भी समूहबद्ध हो सकते हैं जिनकी स्मृतियां और अनुभव एक जैसे हैं और जो अन्य विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के मुकाबले खुद को श्रेष्ठ मानते हैं। जब, उदाहरण के लिए, आईआईटी या जेएनयू के विद्यार्थी किसी कंपनी या मीडिया प्रतिष्ठान में काम करते हैं तो हो सकता है कि उस स्थान की राजनीति में वे अपना एक गुट बना लें। एक तरफ तो वे एक-दूसरे से अधिक परिचय के कारण एकजुट होते हैं और दूसरी तरफ उनके परस्पर साथ आने

से उन्हें कुछ लाभ की भी संभावना पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में उनके तथा औरों के बीच एक सीमा का बोध पैदा हो जाता है जो खुद को श्रेष्ठ और दूसरों को निम्नतर मानने का आधार बन जाता है। हैसियत समूह सांस्कृतिक अनुभवों, आर्थिक संसाधनों और राजनीतिक अनुभवों के आधार पर भी बन सकते हैं। सबसे निर्णायक विशिष्टता यह है कि उनमें पहचान का एक सांस्कृतिक बोध होता है और वे खुद को औरों से श्रेष्ठतर या कमतर मानते हैं।

पियरे बॉर्द्यू उन विद्वानों में से एक हैं जो मानते हैं कि समकालीन सामाजिक असमानता का एक बड़ा हिस्सा मूल रूप से वर्ग व्यवस्था की बजाय हैसियत समूहों के बीच असमानता के रूप में समझा जाना चाहिए (बॉर्द्यू 1992)। कभी-कभी हैसियत समूह व्यवसाय और धन के स्तर पर दिखायी देने वाली भिन्नताओं के आधार पर भी बनने लगते हैं। उदाहरण के लिए, चिकित्सकों में अपनी पेशेवर पहचान का गर्व हो सकता है और उनमें यह विश्वास भी हो सकता है कि बाकी सब उनसे कमतर हैं। या, बुलेट मोटरसाइकिल चलाने वालों को ऐसा लग सकता है कि बाकी सभी मोटरसाइकिल वाले मामूली होते हैं। जाहिर है कि जिनके पास इतना पैसा हो कि वे बुलेट मोटरसाइकिल खरीद सकें, वही इस हैसियत समूह में शामिल हो सकते हैं हालांकि इसमें शामिल होने की कसौटी औपचारिक रूप से किसी व्यवसाय या आमदनी से जुड़ी नहीं है।

हैसियत समूह का विन्यास परिवर्तनशील भी हो सकता है - संभव है कि एक तरफ तो उनमें लोग शामिल हो रहे हों और दूसरी तरफ लोग निकल भी रहे हों। हो सकता है कि बेंगलूरु के पर्यावरणप्रेमी आईटी प्रोफेशनलों के समूह के साथ भी ऐसा हो रहा हो। संभव है कि उनके पास कुछ सांझा मूल्य हों, वे खास व्यवहारों को सम्मान देते हों, सूती कपड़ों को पहनना श्रेष्ठतर मानते हों और स्थानीय स्तर पर पैदा होने वाले शाकाहारी भोजन को प्राथमिकता देते हों। हो सकता है वे इसे ज्यादा तर्कशील व्यवहार मानते हों मगर यह औरों के मुकाबले उनकी नैतिक श्रेष्ठता का चिह्न भी हो सकता है। हो सकता है कि कुछ समय बाद इस हैसियत समूह के कई सदस्य सामान्य उपभोक्तावादी व्यवहार में “डूब” जाएं और पुराने समूह के प्रति वैसा लगाव कायम न रख पाएं। इसके बावजूद, इस समूह के अन्य सदस्य अपने मित्रों और सहकर्मियों को समझा-बुझाकर अपने साथ जोड़ने की कोशिशें भी करते रहेंगे। वेबर का मानना था कि चरम स्थितियों में हैसियत समूह एक जाति व्यवस्था जैसा सख्त ढांचा भी अख्तियार कर सकते हैं जिससे व्यक्ति मर कर भी आजाद नहीं हो सकता क्योंकि श्मशान के पहरेदार मरने पर भी यह पूछने से नहीं चूकेंगे कि मरने वाला “कौन” है।

भारतीय जाति व्यवस्था बेहद पेचीदा है और इसमें भारी क्षेत्रीय विविधता दिखाई देती है। भारत सरकार ने जातियों को चार समूहों में बांटा है - अनुसूचित जातियां (अजा) अनुसूचित जनजातियां (अजजा) अन्य पिछड़े वर्ग (ओबीसी) तथा अन्य सामान्य जातियां। यह वर्गीकरण बहुत सटीक तो नहीं है मगर भारत में उपलब्ध ज्यादातर बड़े पैमाने का डेटा इन्हीं चार श्रेणियों के आधार पर जुटाया जा रहा है। बहुत सारे सर्वेक्षणों से हमें पता चलता है कि शिक्षा के मामले में जाति एक गहरा महत्व रखती है। उदाहरण के लिए अगले पृष्ठ पर दी गयी टेबल को देखें जो 2011-12 के एनएनएस के 68वें चक्र के डेटा पर आधारित है। इसमें अलग-अलग आयु वर्गों में स्कूल और उच्च शिक्षा में दाखिलों की स्थिति को देख सकते हैं। यहां हमें पता चलता है कि केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा किए गए कई दशकों के प्रयासों के कारण 6-14 साल के आयु समूह में अजा, अजजा, ओबीसी और सामान्य जातियों के बच्चों के दाखिलों के बीच कोई खास फर्क नहीं है। यह कोई मामूली उपलब्धि नहीं है। मगर, जैसे ही आप 15-17 वर्ष आयु वर्ग में दाखिलों को देखते हैं तो इन श्रेणियों के बीच खासा फर्क दिखने लगता है। इस आयु वर्ग में अलग-अलग जातियों में दाखिलों का प्रतिशत बदलने लगता है। इस आयु वर्ग में आने पर सामान्य जातियों के 80.1 प्रतिशत किशोर-किशोरियां स्कूल में पढ़ रहे होते हैं जबकि अजजा और अजा समूहों में ऐसे किशोर-किशोरियों की संख्या क्रमशः 67.9 और 67.4 प्रतिशत रह जाती है। नियमित नौकरियों और मध्यवर्गीय तनखाहों का रास्ता खोलने वाली उच्च शिक्षा में दाखिलों में सबसे तीखे फर्क दिखायी पड़ते हैं। हालांकि इस स्तर पर आकर सामान्य जातियों में भी

दाखिले का प्रतिशत बहुत नीचे आ जाता है (सामान्य जातियों के 18-21 वर्ष के युवाओं में से केवल 36.6 प्रतिशत) मगर अजजा और अजा समूहों के 18-21 वर्ष के युवाओं के दाखिलों की संख्या तो सामान्य जातियों के मुकाबले आधे से भी नीचे चली जाती है (14.2 और 18.8 प्रतिशत)। यह इस बात का एक संकेत है कि भारतीय शिक्षा में जाति अभी भी एक महत्वपूर्ण निर्णायक घटक है। यहां इस बात का पता नहीं चलता कि किस समूह के कितने विद्यार्थी अच्छे या बुरे स्कूलों और कॉलेजों में जा रहे हैं। बहुत सारे लोगों के अनुमान यही संकेत देते हैं कि यह संतुलन भी सामान्य जातियों के पक्ष में ही है। सबसे बढ़िया स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ने वाले तथा विदेश जाने वाले विद्यार्थियों में सबसे ज्यादा संख्या सामान्य जातियों के विद्यार्थियों की ही होती है।

टेबल 1 : विभिन्न आयु समूहों में जाति-वार दाखिलों का प्रतिशत (एनएसएस 68 वां चक्र, 2011-12)

|  | अजजा | अजा  | ओबीसी | सामान्य | कुल  |
|--|------|------|-------|---------|------|
| 6-14 वर्ष आयु वर्ग में स्कूल में दाखिले        | 91.2 | 91.9 | 92.7  | 94.8    | 92.9 |
| 15-17 वर्ष आयु वर्ग में स्कूल में दाखिले       | 67.9 | 67.4 | 74.9  | 80.1    | 74.2 |
| 18-21 वर्ष आयु वर्ग में उच्च शिक्षा में दाखिले | 14.2 | 18.8 | 25.2  | 36.6    | 26.2 |

### वर्ण जाति गोत्र का फर्क

भारत में लोग आमतौर पर अपनी जाति वर्ण के रूप में बताते हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनका क्रम आमतौर पर श्रेष्ठतर से निम्नतर बतलाया जाता है। वर्ण व्यवस्था का पहला उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (मंडल 10 सूक्त 90, ग्रिफिथ 1897 : 517-520) में मिलता है जहां बताया गया है कि विभिन्न वर्ण पुरुष के अलग-अलग अंगों से पैदा हुए हैं। दक्षिण एशिया में ऋग्वेद को स्तुतियों का सबसे पुराना संग्रह माना जाता है मगर आम मान्यता है कि यह सूक्त बाद में जोड़ा गया है क्योंकि व्याकरण की दृष्टि से यह शेष संकलन से मेल नहीं खाता और बाद के प्रचलन के ज्यादा निकट दिखायी देता है। ऋग्वेद और अन्य तीनों प्रमुख वेद क्योंकि मुख्य रूप से आर्यों से ही संबंधित हैं इसलिए हो सकता है कि वर्ण व्यवस्था शुरू में आर्यों के बीच व्यावसायिक समुदायों का द्योतक रही हो। इसकी भी संभावना है कि यह व्यवस्था नृजातीय (ऐथनिक) समूहों को दर्शाती हो क्योंकि “वर्ण” शब्द उद्गमविज्ञान की दृष्टि से त्वचा के रंग के बोध को इंगित करता है। गौरतलब है कि आदिवासी और दलित जैसे बहुत सारे समुदाय वर्ण व्यवस्था के दायरे में नहीं आते। ऋग्वेद में दास का उल्लेख किया गया है जिस पर हमला करना आर्यों का एक प्रिय खेल था (ग्रिफिथ 1897 : 21, 79, 94)। जो लोग सचेत या अचेत रूप से जाति व्यवस्था में विश्वास रखते हैं वे इन समुदायों को निम्नतम मानते हैं जिनके लिए किसी वर्ण का नाम तक नहीं दिया गया है।

आजकल समाजशास्त्री जाति के वास्तविक अनुभवों का विवरण करने या शिक्षा के साथ उसके संबंधों के विश्लेषण के लिए वर्ण व्यवस्था को खास उपयोगी नहीं मानते। एमएन श्रीनिवास सहित कई समाज वैज्ञानिकों ने वर्ण और जाति (अथवा अतःविवाही/एन्डोगेमस समूह यानी ऐसा समूह जिसके सिर्फ भीतर ही विवाह संभव होता है) के बीच भेद बताया है और कहा है कि संभवतः कास्ट सिस्टम में असली महत्व जाति का ही है। अधिकांश स्थानों पर जाति ही वह समूह है जिसके भीतर लोग एक-दूसरे के साथ वैवाहिक संबंध बनाते हैं। यानी, एक ही वर्ण से होते हुए भी लोग अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं करते हालांकि अब यह स्थिति धीरे-धीरे बदल रही है। उदाहरण के लिए, तमिलनाडु के ब्राह्मणों में अय्यर और अयंगर दो मुख्य जातियां हैं जो आमतौर पर अपने भीतर ही अपने बच्चों के लिए दूल्हा या दुल्हन ढूंढने की कोशिश करते हैं। उत्तर प्रदेश से मेरे एक ब्राह्मण दंपति मित्र हैं जो यद्यपि एक ही वर्ण से हैं मगर उन्हें अपनी शादी में काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ा था क्योंकि वे ब्राह्मण वर्ण के भीतर ही अलग-अलग जातियों से थे और महिला की जाति के सदस्य खुद को दूल्हे की जाति के मुकाबले उच्चतर मानते थे। प्रसंगवश अय्यर और अयंगरों में इस बात को लेकर अभी भी विवाद है कि कौन-सी जाति दूसरी से ज्यादा श्रेष्ठ है।

शिक्षा, रोजगार और व्यवसाय के क्षेत्र में भी जाति का प्रभाव कई प्रकार से सामने आता है। इनमें से एक प्रभाव पारिवारिक संबंधों और संपर्कों का होता है। परिवार के अन्य कुटुंबी जो पढ़ाई-लिखाई में आगे रहे हैं, वे आने वाले युवाओं के लिए रोल मॉडल बन जाते हैं। जिन परिवारों में स्कूल और कॉलेज तक की शिक्षा की परंपरा रही है, उनमें अपने बच्चों को ब्याहने के लिए इस बात पर भी ध्यान दिया जाता है कि इससे आने वाली पीढ़ी के बच्चों के पास भी एक ऐसा पारिवारिक वातावरण हो जो स्कूली शिक्षा को प्रोत्साहन दे। जिस जाति समूह के भीतर शादियां तय की जाती हैं, वह कौटुंबिक संबंधों की बाहरी सीमा रेखांकित करता है। वह इस समूह को रेखांकित कर रहा है जिसमें रिश्तेतारी के नाम से सबसे अधिक मेल-जोल रहती है और जो बुरा वक्त पड़ने पर मदद के लिए आता है। भारत के कई भागों में सिंधियों और मारवाड़ियों की व्यापारिक जातियां मिलती हैं और उनके सदस्य जरूरत के समय पूंजी के रूप में और नए कारोबार शुरू करने के अवसरों आदि के रूप में एक-दूसरे को मदद देते हैं।

जाति शब्द ऐन्डोगेमस (अंतःवैवाहिक यानी ऐसा समूह जिसके भीतर विवाह संभव है) समूह या ऐसे समूह का द्योतक होता है जिसके भीतर विवाह परंपरागत रूप से संपन्न होते रहे हैं। दूसरी तरफ गोत्र शब्द आमतौर पर एक ऐसे समूह को दर्शाता है जो एक्सोगेमस (ऐसा समूह जिसके भीतर विवाह संभव नहीं है) समूह होता और जिसके भीतर होने वाले विवाहों को कौटुंबिक व्यभिचार या इंसेस्ट कहा जाता है। यानी व्यक्ति अपनी जाति के भीतर तो विवाह कर सकता है मगर उसे अपने गोत्र के बाहर विवाह करना होगा। विभिन्न जातियों में अलग-अलग नियम हो सकते हैं जिनके आधार पर दो गोत्र एक-दूसरे के सदस्यों से विवाह कर सकते हैं। कुछ समुदायों (जैसे खुद मेरे पिता के गोत्र 'मदान') में गोत्र के भीतर विवाह स्वीकार्य है। दूसरी तरफ, कई गोत्र इस बात पर जोर देते हैं कि विवाह के बारे में विचार करते हुए चार गोत्रों में विवाह नहीं किया जाना चाहिए - पिता का गोत्र, मां का गोत्र, दादी का गोत्र और नानी का गोत्र। कुछ जातियों के लोग 16 गोत्रों के बाहर विवाह की सलाह देते हैं। ये सभी नियम वैवाहिक फैसलों का महत्वपूर्ण आयाम होते हैं और अकसर प्रेमी युगलों के लिए बड़ी कठोर समस्या बन जाते हैं।

बच्चे की आकांक्षाओं और रुझानों पर उसके अपने माता-पिता के परिवार, उसके दादा-दादी, नाना-नानी, तथा चाचा-चाची, मामा-मामी, और रिश्ते के भाई-बहनों का सीधा असर पड़ता है। वे उसके लिए एक मिसाल बन जाते हैं और इस बारे में सलाह देते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इस प्रकार, विवाह और कौटुंबिक रुझान शिक्षा के लिए भारी महत्व रखते हैं और बहुत सारी बीती पीढ़ियों के जातिगत संबंधों व नेटवर्कों को वर्तमान में सार्थक बना देते हैं। एक दिलचस्प बात यह है कि जाति के लाभों या हानियों को ढोने के लिए यह जरूरी नहीं है कि आप जाति व्यवस्था की विचारधाराओं में विश्वास रखें या सामाजिक भेदभाव का आचरण करें। इसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि आप अपनी जाति के भीतर विवाह के नियम का पालन करें।

## वर्ण तथा जाति की असलियत

इस प्रकार, जो लोग यह समझना चाहते हैं कि भारतीय जाति व्यवस्था कैसे काम करती है उनके लिए चतुर्वर्णीय व्यवस्था के रूप में उसे देखना उपयोगी नहीं है। वर्ण एक सामान्यीकरण है जो विभिन्न जातियों को एक-दूसरे के संदर्भ में रखने और उनकी सापेक्ष हैसियत व पद को निर्धारित करने में मदद देता है। यह एक ऐसी छवि का काम करता है जिसके बरक्स आप खुद को माप सकते हैं। मगर वास्तव में वर्ण की जगह अंतः विवाही जाति ही है जो हमारे जीवन को प्रभावित और निर्धारित करती है।

भारत में जातियों की एक संतोषजनक व्याख्या के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था का सहारा लेने में दूसरी भी मुश्किलें पेश आती हैं। जाति व्यवस्था देश के अलग-अलग भागों में अलग-अलग ढंग से काम करती है। दुनिया के दूसरे भागों में कास्ट के बारे में हम आगे बात करेंगे। मगर ब्राह्मण से नीचे क्षत्रियों, वैश्यों से नीचे शूद्रों और तत्पश्चात सबसे निचले पायदान पर "अछूतों" को दर्शाने वाली तस्वीर देश के केवल कुछ भागों तक ही सीमित है और वहां भी बहुधा

इसको बहुत कड़ी चुनौती दी जा रही है। उदाहरण के लिए, पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाट और जट इस बात से बेहद नाराज हो सकते हैं कि गांव के गरीब पुजारी को उनसे ज्यादा सम्मानजनक हैसियत कैसे मिल सकती है। स्वतंत्रता के बाद और लगभग साठ के दशक के अंत तक पंजाब में वैश्य व्यापारिक जातियां राजनीतिक नियंत्रण की स्थिति में थीं। हरित क्रांति के फलस्वरूप खेतिहर जातियों, खासतौर से जटों की ताकत में भारी इजाफा हुआ। एमएन श्रीनिवास ने स्थानीय स्तर पर सत्ताशाली जाति को “प्रभुत्वशाली जाति” (डॉमिनेंट कास्ट) की संज्ञा दी है। कर्नाटक में प्रभुत्वशाली जातियां न तो ब्राह्मण और न ही क्षत्रिय हैं बल्कि वैश्य हैं। उत्तरी कर्नाटक में लिंगायत और दक्षिणी कर्नाटक में वोक्कलिंगा। इनमें से कोई सा भी प्रसंग इस शास्त्रीय छवि के अनुकूल दिखायी नहीं पड़ता जिसमें ब्राह्मण नैतिक मुखिया दिखाई देते हैं और क्षत्रिय ब्राह्मणों के विवेक व बुद्धि के मार्गदर्शन में चलते हुए राजनीतिक नेतृत्व का निर्वाह करते हैं। जहां ब्राह्मणों के पास विशाल भूसंपदा या राजसत्ता रही है, संभवतः ऐसे स्थानों पर ही वे सांस्कृतिक व राजनीतिक सोपानों में सबसे ऊंची हैसियत हथियाने में कामयाब रहे हैं। इसके उदाहरण महाराष्ट्र के पुणे क्षेत्र और तमिलनाडु के कुछ भागों में देखे जा सकते हैं। यह भी हो सकता है कि कोई वर्ण एक इलाके में गायब हो और दूसरे इलाके में मौजूद हो। मसलन, तमिलनाडु और केरल जैसे राज्यों में क्षत्रिय और वैश्य या तो अनुपस्थित हैं या उनकी उपस्थिति केवल हाल ही में दर्ज की जाने लगी है। बंगाल में क्षत्रिय वर्ण नहीं मिलता। देश भर की आदिवासी पट्टियों में तो कास्ट की धारणा हाल की सदियों में ही प्रवेश कर पाई है। कुल मिलाकर कास्ट सिस्टम का यथार्थ वर्णाश्रम व्यवस्था के मुकाबले कहीं ज्यादा जटिल है।

## जातिवाद का मूल ढांचा

इतनी सारी भिन्नताओं को देखते हुए यह सवाल उठाया जा सकता है कि अंततः कास्ट सिस्टम से हमारा आशय क्या है? कास्ट के मूल में तीन विशेषताएं दिखाई देती हैं - एंडोगेमी, ऊंच-नीच की सोपानिक संस्कृति और व्यावसायिक रुझान। अंतःविवाह की व्यवस्था (एंडोगेमी) ऐसे समूहों को जन्म देती है जो आंतरिक रूप से घनिष्ठता पूर्वक जुड़े होते हैं और जिनमें औरों का प्रवेश निश्चित होता है। इसके भी कुछ उल्लेखनीय अपवाद हैं। अंतर्जातीय विवाहों पर लगी पाबंदी संभवतः यह सुनिश्चित करती है कि लड़कियों को निम्नतर हैसियत वाली जातियों में न ब्याहा जाए जबकि तुलनात्मक रूप से ऊंची हैसियत वाली जाति में उनके विवाह पर लोगों को उतनी आपत्ति नहीं होती। पंजाब और हरियाणा में अंतर्जातीय विवाह के इच्छुक युवाओं के खिलाफ सबसे ज्यादा गुस्सा तब पैदा होता है जब लड़की लड़के के मुकाबले उच्चतर हैसियत वाली जाति से होती है। अगर कोई दलित लड़की किसी उच्च जातीय लड़के से विवाह करे तो सार्वजनिक गुस्से और प्रतिशोध की धमकियां प्रायः क्षीण ही होती हैं। जब इसके उलट स्थिति होती है यानी कोई ऊंची जाति की लड़की किसी दलित जाति के लड़के से विवाह करना चाहती है तो तलवारें निकल आती हैं। लड़कियों को उच्चतर जाति समूह में ब्याहने और निम्नतर जाति समूह में न ब्याहने की इस प्रवृत्ति को हाइपरगेमी कहा जाता है और इससे समाज में महिलाओं की हैसियत पर भी टिप्पणी मिलती है।

केवल जाति के भीतर ही विवाह करने के नियम पर भी कुछ जातियों में दूसरी जातियों के मुकाबले ज्यादा जोर दिया जाता है, खासतौर से मझौली या ऊंची जातियों में। उदाहरण के लिए, ए.एम. शाह (2001) ने गुजरात के राजपूतों का अध्ययन करके बताया है कि वे आमतौर पर एक एंडोगेमस समूह के रूप में काम करते हैं मगर उनके भीतर भी अलग-अलग वंशावलियां हैं जिनकी अपनी-अपनी सापेक्ष हैसियत है और इन वंशावलियों के बीच भी हाइपरगेमी का चलन रहा है। उनमें सबसे ऊंची हैसियत वाले परिवार और वंश किसी भी जाति के शक्तिशाली और भूस्वामी परिवार में विवाह के प्रति उदार रवैया रखते थे। उनका मानना था कि ऐसे सभी परिवार मोटे तौर पर “राजपूत” यानी राजाओं के पुत्र ही होते हैं। मझौली हैसियत वाली वंशावलियां इस प्रकार की उदारता के लिए नहीं जानी जाती थीं। दूसरी तरफ, सबसे निचली हैसियत वाली राजपूत वंशावलियां अपने इलाके के भील समुदायों में विवाह तक के प्रति भी खुला रवैया रखती थीं।

एंडोगेमी एक मुख्य प्रक्रिया है जो जाति के स्वरूप को निर्धारित करती है और शिक्षा पर उसके प्रभावों को तय करती है। मगर जाति व्यवस्था को समझने के लिए सिर्फ एंडोगेमी का अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है। दुनिया के बहुत सारे भागों में एंडोगेमस समूह दिखायी देते हैं मगर विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि उनमें जाति की अवधारणा भी मौजूद है। उदाहरण के लिए, पूर्वी अफ्रीका में कई ऐसी जनजातियां हैं जो एक-दूसरे के साथ विवाह नहीं करतीं। गौरतलब बात है कि उनके बीच कोई साझा विचारधारा या संस्कृति नहीं है जो यह बताए या तय करे कि कौन सा समुदाय दूसरे समुदाय से श्रेष्ठतर है। कई भारतीय आदिवासी समूह भी एंडोगेमस हैं मगर उनके पास भी ऐसी कोई संस्कृति नहीं है जो उन्हें एक सापेक्ष सोपानिक क्रम में रखती हो जो कि जातीय क्रिया विधान की विशेषता होती है। जाति व्यवस्था में जो एंडोगेमी होती है वह जाति व्यवस्था की एक खास विशेषता से जुड़ी हुई है: एक ऐसी संस्कृति जो यह मानती है कि कुछ समूह दूसरे समूहों से श्रेष्ठतर होते ही हैं। यह सोपानिक संस्कृति खुद को असंख्य ढंग से अभिव्यक्त करती है और हमारी पाठ्यचर्याओं तथा बच्चों के प्रति अध्यापकों के व्यवहार और आचरण में भी साफ प्रतिबिंबित होती है।

सभी मानव समूहों में इस बात का बोध होता है कि क्या अच्छा है और क्या अच्छा नहीं है। यह नैतिक चयन या आकलन एक तरह से मनुष्यों की विशेषता है। लुई ड्यूमो (1999), जिन्होंने मुख्य रूप से ब्राह्मणवादी लेखन के अध्ययन के जरिए जाति का विश्लेषण किया है, का मानना है कि भारत में जाति की संस्कृति के मूल में विचारों और आचारों की एक विस्तृत व्यवस्था रही है। यह जाति की एक विचारधारा थी और उसे एक आधारभूत स्तर पर शुद्ध और अशुद्ध के भेद के रूप में देखा जा सकता था। उदाहरण के लिए, यही विचारधारा थी जिसने इस आशय की पारबंदियां तय कीं कि कौन किसके हाथों से दिया गया भोजन ग्रहण कर सकता और कौन उसके हाथों से दिया गया भोजन ग्रहण नहीं कर सकता। ऊंची हैसियत वाली जातियों का निचली जातियों के लोगों द्वारा दिये गए भोजन को ग्रहण करना निषिद्ध था क्योंकि यह मान लिया गया था कि ऐसे देने वाले व्यक्ति के स्पर्श मात्र से भोजन दूषित या अशुद्ध हो चुका होता है। इस विचारधारा के अनुसार, अगर निचली हैसियत वाली जाति का कोई व्यक्ति किसी कुएं में अपनी बाल्टी डालता है तो वह कुएं के पानी को भी दूषित कर देता है। इसके बाद विभिन्न अनुष्ठानों के जरिए कुएं का शुद्धीकरण किया जाता था और तभी ऊंची जातियों के लोग उसे पी पाते थे। तला हुआ भोजन सभी जातियों से ग्रहण किया जा सकता था क्योंकि उसे हर स्थिति में शुद्ध ही माना जाता था। मगर, कच्चा भोजन केवल खास जातियों से ही ग्रहण किया जा सकता था। संभवतः इसी आधार पर समझा जा सकता है कि रेलवे स्टेशनों और बाजारों में तला हुआ भोजन इतनी आसानी से क्यों मिल जाता है जबकि वहां कढ़ाई और तेल को संभालना कोई आसान काम नहीं होता है। जाहिर है इसका कारण यही है कि उसे दूषित होने की फिक्र किए बिना सभी जातियां खा सकती थीं।

भले ही लोग यह मानने लगे कि अब वे जातिवाद का समर्थन नहीं करते मगर इस तरह के विचार इसके बाद भी जीवित रह सकते हैं। मैंने अकसर उच्च जाति परिवारों को अपने नौकरों के खाने-पीने के लिए अलग बरतन रखते हुए देखा है। मुझे यह देखकर अचंभा होता है कि वे ऐसा क्यों करते हैं क्योंकि इसका कोई तर्कसंगत आधार दिखाई नहीं देता क्योंकि वही नौकर तो सारे बर्तन धोते हैं जिन्हें धुलने के बाद स्वामी उनके स्पर्श से दूषित होने से बचाने की चिंता में मरे जाते हैं। दरअसल यह उसी पुरानी सोच का नया संस्करण है कि ऐसे लोग कमतर और गंदे होते हैं। सोपानिक्रम की संस्कृति हमारे भीतर इस ढंग से समा जाती है कि उसके बारे में हमारा सचेत रह पाना भी मुश्किल हो जाता है। वह दूषित व्यक्ति से दूर रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति व भावना पैदा कर देती है। जब किसी उच्च जाति के व्यक्ति को यह बताया जाता है कि वह जो खाने जा रहा है उसे किसी निचली जाति के व्यक्ति ने छुआ था तो उसके भीतर कोई सोचा-समझा तर्क पैदा नहीं होता बल्कि वह एक भावनात्मक स्तर पर प्रतिक्रिया देता है।

जाति की संस्कृति स्कूलों में भी नाना प्रकार से अभिव्यक्त होती है। अब पुराने और सबसे प्रत्यक्ष किस्म के जातिगत व्यवहार धीरे-धीरे खत्म होते जा रहे हैं। लिहाजा, अब ऐसे प्रसंग कम मिलते हैं जहां ऊंची और निचली जातियों के लिए अलग-अलग बर्तन या घड़े रखे जाते हों। मगर जाति की संस्कृति अभी भी मौजूद हो सकती है और अध्यापकों के जहन में इस आशय का एक तर्करहित और भावनात्मक बोध पैदा कर सकती है कि कथित निचली जातियों के बच्चे गंदे और घृणास्पद होते हैं। भले ही इसका कोई तार्किक आधार न हो मगर किसी जाति समाज में गहरी जड़ें जमाए बैठी सांस्कृतिक आदतें ऐसे बहुत सारे तथाकथित उच्चजातीय अध्यापकों की भी सबसे स्वाभाविक पहली प्रतिक्रिया का स्रोत बनी रहती हैं। बेशक, उनमें से कई अध्यापक आगे चलकर खुद पर यह सवाल भी उठा सकते हैं कि वे ऐसा क्यों महसूस करते हैं और उन विचारों को झटक भी सकते हैं। यह कहना फिर भी मुश्किल है कि यह हमारी जिंदगी से जाति की संस्कृति और सोच के खत्म होने का प्रमाण है। हर चीज को ऊंचे और नीचे, शुद्ध और घृणास्पद की कसौटियों पर कसने की मनोवैज्ञानिक चाह जाति की विचारधाराओं से अतिरिक्त बल ग्रहण कर लेती है।

जाति आज भी हमारे बीच जीवित है भले ही इसका चरित्र बदलता दिखायी दे रहा हो। अगले अंक में हम व्यवसायों और वर्गीय असमानता के साथ उसके संबंधों तथा राजनीति व पितृसत्ता के साथ उसके संबंधों पर विचार करेंगे। अगर हम यह जानना चाहते हैं कि शिक्षा में जाति की क्या भूमिका है और वह सामाजिक असमानता के दूसरे रूपों से किस तरह संबद्ध है तो हमें इन पहलुओं को अनिवार्यतः समझना होगा। ♦

**भाषान्तर: योगेन्द्र दत्त**

## संदर्भ

- Bourdieu, P. (1992). *Distinction: A social critique of the judgement of taste*. London: Routledge.
- Dumont, L. (1999). *Homo Hierarchicus: The Caste System and Its Implications* (Revised English Edition). New Delhi: Oxford University Press.
- Shah, A. M. (2001). Division and Hierarchy: an overview of caste in Gujarat. In K. L. Sharma (Ed.), *Social Inequality in India: Profiles of Caste, Class, Power and Social Mobility* (2nd ed., pp. 199-234). Jaipur and New Delhi: Rawat.
- Weber, M. (1978). *Economy and Society: An Outline of Interpretive Sociology*. (G. Roth & C. Wittich, Eds.). Berkeley, Los Angeles, London: University of California Press.

**लेखक परिचय:** जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बेंगलूर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।